वीणा-ग्रंथि

सुमित्रानंदन पंत

ग्रंथ-संख्या—१४६

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती-भण्डार

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण

सं० २००७ वि०

मूल्य ३)

मुद्रक

महादेव एन० जोशी

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विज्ञापन

"वीणा" नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी संसार के उद्भटसमालोचकों की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सम्मुख रखने में मुझे जो संकोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है उसका कारण यह है कि मेरे इन असमर्थ प्रयत्नों तथा असफल चेष्टाओं द्वारा किये गये अत्याचार-उत्पात को स्नेह पूर्वक सहन कर वे मुझे ही अपने कृतज्ञता के पाश में न बाँध लेंगे, स्वयं भी मेरे अत्यन्त निकट खिंच आयेंगे। सन्त हंसों की तो वैसे भी चिन्ता नहीं रहती; हाँ, वारि विकार के प्रेमियों के कठोर आघात से बचने के लिये एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका में अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट शब्दों की चाटुकारी का रोचक जाल फैला कर उनकी रण कुशल कठफोरे की सी ठोंठ को बाँध दूँ। किन्तु 'निज कवित्त केहि लागे न नीका' वाली किंवदन्ती के याद आते ही मेरे अभिमानी कवि ने निर्भयता का कवच पहन कर, मुझे, उनकी लम्बी सी चोंच के लिये 'शोरवा' तैयार करने से हठात् रोक दिया। अस्तु—

इस संग्रह में दो एक को छोड़ अधिकांश सब रचनायें सन् १९१८-१९ की लिखी हुई हैं। उस कवि जीवन के नवप्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर ध्वनि तथा अनिर्वचनीय सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा, 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' निर्बोध, लज्जा भीरु कवि, वीणा वादिनी के चरणों के पास बैठ, स्वर-साधन करते समय, अपनी आकुल उत्सुक हृत् तन्त्री से बार बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त असमर्थ अँगुलियों के उल्टे सीधे आघातों-द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट अस्पष्ट झंकारें, जाग्रत कर सका है, वे इस 'वीणा' के

स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इसकी भाषा यत्र तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा; क्योंकि तब इसका सारा ठाठ ही बदल देना पड़ता। कई शब्द, वाग्बन्ध आदि—जैसे मम, स्वीकारो, निर्माऊँ, वय-वाली, 'पहना है शुचि मुक्तामाल (पृष्ठ ३१)' इत्यादि —जिनका प्रयोग अब मुझे कविता में अच्छा नहीं लगता—इसमें ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत साधते समय अपने नौसिखुवे शिष्य की अधीर, पथ-भ्रष्ट अँगुलियों की बेसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नहीं होती, उसी प्रकार इस वीणा के गीतों की स्वर लिपि में इधर उधर भूल से लग गये कर्कश विवादी स्वर भी सहृदय काव्य मर्मज्ञों के लिये केवल मनोरंजन तथा विनोद ही की सामग्री होंगे।

'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' वाला गीत (पृष्ठ ८) गीतांजलि के 'अंतर मम विकसित कर' वाले गाने से मिलता जुलता है। बनारस में मेरे एक मित्र गीतांजलि के उस गीत को अकसर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैंने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी।

कई कारणों से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह हिन्दी-प्रेमियों को "पल्लव" से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योंकि यह उतना अच्छा नहीं।

२५ अगस्त २७
बेली रोड, प्रयाग

श्री सुमित्रानंदन पंत

सूची

उत्सर्ग

जननि, सुना दे मृदु झंकार !
मधु बाला की मृदु बोली-सी
तेरी वीणा की गुंजार
खिला कई कवि-कुल-कमलों को
सुरभि कर चुकी है संचार !

मधुर प्रतिध्वनि सुनकर उसकी
नव कलियाँ सजतीं श्रृंगार,
यह तो तुतली बोली में है
एक बालिका का उपहार;
यह अति अस्फुट, ध्वन्यात्मक है,
बिना व्याकरण, बिना विचार !

इस बोली में कौन सुनेगा
इसकी वीणा को निस्सार ?
ताल लय रहित मेरी वीणा
वीणा वादिनि, कर स्वीकार !

(१९१८)

वीणा

(१)

नव वसन्त ऋतु में आओ,
नव कलियों को विकसाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !

तरुण उषा की अरुण अधखुली
आँखों से मत बिंधवाओ,
मानिनि, मंजुल मलयानिल से
यों विरोध मत बढ़वाओ !

इन नयनों को समझाओ,
इन्हें न लड़ना सिखलाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
कमल कली में इन्हें डालकर
हाय ! न यों ही ढुलकाओ,
अज्ञाता की केश राशि में
इन्हें न कस कस बँधवाओ !

आओ, कोकिल बन आओ,
ऋतुपति का गौरव गाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
अधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दों में जीवन लाओ,
आँखों ने जो देखा, कर को
उसे खींचना सिखलाओ !

(१९१८)

(२)

तुहिन बिन्दु बनकर सुंदर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
मा ! तेरे प्रिय पद पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ—
इस ऊषा की लाली में !

तरल तरंगों में मिल कर,
उछल उछलकर, हिल हिलकर
मा ! तेरे दो श्रवण पुटों में
निज क्रीड़ा कलरव भर दूँ—
उभर अधखिली बाली में !

रजत रेत बन, कर झलमल,
तेरे जल से हो निर्मल,
माया सागर में डूबों का
सोख सोख रति रस हर दूँ—
ओप भरी दोपहरी में !

बन मरीचिका सी चंचल,
जग की मोह तृषा को छल,
सूखे मरु में मा ! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूं—
यौवन की मद लहरी में !

विटप डाल में बना सदन,
पहन गेरुवे रँगे वसन,
विहग बालिका बन, इस वन को
तेरे गीतों से भर दूं—
संध्या के उस शांत समय !

कुमुद कला बन कल हासिनि,
अमृत प्रकाशिनि, नभ वासिनि,
तेरी आभा को पाकर मा !
जग का तिमिर त्रास हर दूं—
नीरव रजनी में निर्भय !

(१९१८)

(३)

बढ़ा और भी तो अंतर !
जिनको तूने सुखद सुरभि दी,
मा ! जिनको छबि दी सुंदर,
मैं उनके ढिग गई व्यग्र हो
तुझे ढूँढ़ने को सत्वर !

मधु बाला बन मैंने उनके
गाए गीत, गूँज मृदुतर,
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गई मोहित होकर !

(१९१८)

(४)

यह चरित्र मा ! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख,
गा न सकी यदि मैं इसको तो
मुझको इसमें भी है सुख !

वह बेला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय के पास,
पा न सकी यदि उसमें तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख !

वे मोती जो दिखलाए थे
तूने ऊषा के बन में
उन्हें लोग यदि ले लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख !

तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जंग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

(१९१८)

(५)

आज वेदने ! आ, तुझको भी
गा गाकर जीवन दे दूं—
हृदय खील के रो रोकर

अविरल आहों में भर भरकर
उस कठोर मन की घातें,
मुरझी मालाओं से गिन गिन
चिर वियोग दुख की रातें;
सजनि ! निराशा में विलीन हो
तुझको निज तन मन दे दूं—
अश्रु नीर से धो धोकर !

जिस मलिन्द की छबि मदिरा की
मादकता तू लाई है,
पिला पिला जिसको, नयनों की
तूने प्यास बढ़ाई है;
उसे तुझी में पाकर तुझको
अपना नव यौवन दे दू—
सजनि ! विमूर्छित हो होकर !

(१९१८)

(६)

मम जीवन की प्रमुदित प्रात
सुंदरि ! नव आलोकित कर !

विकसित कर, नव सुरभित कर,
गुंजित कर, कल कुंजित कर,
खिला प्रेम का नव जलजात,
बढ़ा कनक कर निज मृदुतर !

निर्मल कर, अति उज्ज्वल कर,
मंजुल कर, मुद मंगल कर,
जीवन ज्योति जला अवदात,
ज्वालामय कर उर अंबर !

मेरे चंचल मानस पर
पाद पद्म विकसा सुंदर,
बजा मधुर वीणा निज मात !
एक गान कर मम अंतर !

(१९१८)

(७)

हाय, कहेगा क्या संसार !
भला इसे मैं क्यों पहनूँगी ?
यह कैसा मणियों का हार !
मैं तो अपनी हार स्वयं ही
पहन चुकी हूँ बारंबार !

जब खद्योतों से खेलूँगी
विजन निशा में, मैं उस पार,
इन मणियों की आभा से तब
दुख पहुँचेगा उन्हें अपार !

फिर पीपल के नीचे मुझसे
नहीं मिलेंगे वे सुकुमार,
जहाँ प्रकाशित करते हैं वे
मेरी आशा का संसार !

(१९१८)

(८)

काला तो यह बादल है !
कुमुद कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ मा !
काला तो यह बादल है !
मेरा मानस तो शशि हासिनि !
तेरी क्रीड़ा का स्थल है,
तेरे मेरे अंतर में मा !
काला तो यह बादल है !

तेरी किरणों से ही उतरा
मोती सा शुचि हिमजल है,
मा ! इसको भी छू दे कर से
काला जो यह बादल है !
तब तू देखेगी मेरा मन
कितना निर्मल, निश्छल है,
जब दृगजल बन बह जावेगा
काला जो यह बादल है !

(१९१८)

(९)

द्वार भिखारी आया है,
भिक्षा दो, भिक्षा, सुंदर !

कर चंचल मंजुल मुसकान,
तम का मुख काला कर प्राण !

गरज, गरज, कुछ शिक्षा दो,
शिक्षा दो, हे शिक्षाकर !

दया द्रवित हो दया निधान !
नम्र निवेदन कर यह कान,

अये मुक्त ! शुचि मुक्ता दो,
मुक्ता दो, थाली भर भर !

क्षीण कंठ कर रहा पुकार,
जलधर से बनकर जलधार,

प्यास लगी है पानी दो,
पानी दो, जीवन जलधर !

स्नेह अश्रु जल से अविरल
धो दो मेरा मल, निर्मल !

तप्त हृदय शीतल कर दो,
शीतल कर दो, आतपहर !

(१९१८)

(१०)

जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल,
मैं कहती थी मेरा मृदु मुख
शशि के कर खोलें शीतल !

पर, आँखें खुलते ही मैंने
अंधकार देखा,—सविकल
स्वर्ण दिशा को देख, सजल दृग,
तुम्हें पुकारा हे उज्ज्वल !

(१९१८)

(११)

कौन कौन तुम परिहृत वसना,
म्लान मना, भू-पतिता सी ?
धूलि धूसरित, मुक्त कुंतला,
किसके चरणों की दासी ?
अहा ! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि ! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया !

विजन निशा में किन्तु गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,
आनंदित होती हो सखि ! नित
उसकी पद सेवा करके ;

और हाय ! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि-दिन बन-बन,
नहीं सुनाई देती फिर भी
वह वंशी ध्वनि मन मोहन !
सजनि ! सदा श्रम हरती हो तुम
पथिकों का, शीतल करके,
मुझ पथिकिनि को भी आश्रय दो,
मनस्ताप मेरा हरके !
(१९१८)

(१२)

बालकाल में जिसे जलद से
कुमुद कला ने किलकाया,
तारावलि ने जिसे रिझाया,
मृदु स्वप्नों ने सुहलाया;
मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल-चुंबन उलझाया,
उसे आज अपनी ही छबि में
केवल बाले ! न लुभा ले,—
उनका भी तो है कुछ भाग !

दीप शलभ ने जिसे मिचौनी
खेल खेल कर हुलसाया,
कुसुमों ने हँसना सिखलाया,
मृदु लहरों ने पुलकाया;
जिसे ओस जल ने ढुलकाया,
धवल धूलि ने नहलाया,
उसे कुसुम सा गूँथ न ले अलि !
कुटिल कुंतलों में काले,—
मेघों से भी है अनुराग !

जिसकी सुंदर छबि ऊषा है,
नव वसंत जिसका शृंगार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार;
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाँहों में लिपटा ले,—
रमा अंग में प्रेम पराग !

(१९१८)

(१३)

जब मैं थी अज्ञात प्रभात,—
मा ! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात !
तब तो यह भारी अंतर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुंदर;
तू उमंग थी, मैं उत्पात !
अब तेरी छाया सुखमय
अंधकार में नीरवता बन
मा ! उपजाती है विस्मय !

× × × × ×

उठ रे, उद्यत हो अज्ञात !
स्तब्ध हुआ है सब संसार,
इस नीरवता से तू कर ले
अपने साधन का श्रृंगार,
यह सुहाग की है प्रिय रात !
यह दीपक अपने सम्मख धर,
जिससे पीछे गिरे मोह की
छाया, अंतर हो गोचर;
वह भविष्य होवे अवदात !

(१९१९)

(१४)

करुणा क्रंदन करने दो !
अविरल स्नेह अश्रु जल से मा !
मुझको मति मल धोने दो,
दग्ध हृदय की विरह व्यथा को
हरने दो, मा ! हरने दो !
मुझे चरण में शीश नवाकर
अवनत वदना होने दो,
उर इच्छा को एक आह बन
झरने दो, मा ! झरने दो !

मानस शय्या पर मेरी इन
वांछाओं को सोने दो,
अपना अंचल निज स्वप्नों से
भरने दो, मा ! भरने दो !
द्रोह, मोह, छल, मदन, मद मुझे
निज संगति से खोने दो
हाथ पकड़, यह विश्व, महोदधि
तरने दो, मा ! तरने दो !

(१९१८)

(१५)

धनिक ! तुम्हारे यहाँ भिखारी
भिक्षा लेने आया है,
नहीं इसलिए—तुम थाली भर
मणि मुक्ता दोगे सुंदर ।

किन्तु इसलिए आया है प्रिय !
वह तुमने अपनाया है,
स्नेह सहित तुम जो कुछ दोगे,
वह कृतार्थ होगा सत्वर ।

(१९१८)

(१६)

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृगजल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार,
नहीं फिर भी तो आती लाज…
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

हुआ था जब संध्या आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग रव बनकर मैं चितचोर!
गा रहा था गुण, किन्तु कठोर!
रहे तुम नहीं वहां भी, शोक !…
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल
चुभाए तुमने मेरे गात....
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वृक्ष करील,
रात दिन दृष्टि द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें, (यही क्या शील!)
न आये पास, सजा नव साज....
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन रात,
बुझाते हो प्रदीप, बन बात,
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत....
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

(१९१९)

(१७)

ये तो हैं नादान नयन !
वारि विनिर्मित वरिद दल,
मंजु मेल की मूर्ति विमल,
निर्मलता के निलय नवल क्यों
इन्हें दिखाई देते श्याम ?

वे वासव के शुचि वाहन,
रोहित-रंजित गिरि मंडन,
प्रकृति देवि के नव जीवन क्यों
इन्हें नहीं लगते अभिराम ?

ये तो हैं निर्बोध श्रवण !
जिन्हें वारि ने उपजाया,
दिनकर ने है विकसाया,
विमल वायु ने समुद झुलाया
जिन्हें खिलाकर अपनी गोद;

उनका मंजुल मोद मिलन,
गुण - गंभीर गहन गर्जन,
चपला चुंबित अभिवादन क्यों
इन्हें नहीं देता आमोद ?

छोड़ उच्चतम नील गगन——
इन नयनों में समुद उतर,
इन श्रवणों में मृदु स्वर भर,
इनसे नहीं मिले आकर वे
इसी लिए क्या हैं श्यामल ?

पर, जब पी-पी ध्वनि सुनकर,
अविरल पिघल पिघल, झर झर,
गिरते हैं बन हिम सीकर वे
तब कहलाते निर्मल जल !
कैसा भोला है यह मन !

(१९१९)

(१८)

मेरे मानस का आवेश,
तेरी करुणा का उन्मेष,
भीरु घनों-सा गरज गरजकर
इसे न मुरझा जाने दे !
निज चरणों में पिघल पिघलकर
स्नेह अश्रु बरसाने दे !

भव्य भक्ति का भावन मेल,
तेरा मेरा मंजुल खेल,
सघन हृदय में विद्युत सा जल
इसे न मा ! बुझ जाने दे,
मलिन मोह की मेघ-निशा में
दिव्य विभा फैलाने दे !

विश्व प्रेम का रुचिकर राग,
पर सेवा करने की आग,
इसको संध्या की लाली सी
मा ! न मंद पड़ जाने दे,
द्वेष द्रोह को सांध्य-जलद सा
इसकी छटा बढ़ाने दे !

(१९१८)

(१९)

उस सीधे जीवन का श्रम
हेम हास से शोभित है नव
पके धान की डाली में,—
कटनी के घूँघुर रुन झुन
(बज बजकर मृदु गाते गुन,)
केवल श्रांता के साथी हैं
इस ऊषा की लाली में !

मा ! अपने जन का पूजन
ग्रहण करो 'पत्रं पुष्पम्',
सरल नाल सा सीधा जीवन
किन्तु मंजरी से भूषित,
बाली से श्रृंगार तुम्हारा
करता है वय वाली में !

सास ननद भय, भूख अजय,
श्रांति, अलस औ' श्रम अतिशय,
तथा काँस के नव गहनों से
अर्चन करता है सादर—
आश्विन सुषमाशाली में !

(१९१८)

(२०)

इस अबोध की अंधकारमय
करुण कुटी पर करुणा कर
अये रंध्र-मग-गामी ! स्वागत,
आओ, मुसका उज्ज्वलतर !

रजत तार-से हे शुचि रुचिमय !
हे सूची-से कृशतर अंग !
इस अधीर की लघु-कुटीर का
तिमिर चीरकर, कर दो भंग !

हे करुणाकर के करुणा-कर
तुम अदृश्य बन आते हो,
रज कण को छू, बना रजत कण,
प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो !

अरुण अधखुली आँखें मलकर
जब तुम उठते हो छबिमय !
रंग रहित को रंजित करते,
बना हिमालय हेमालय !

तुम बहुरंगी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ !
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ !

हे सुवर्णमय ! तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुंदर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद पद्म अमर !

और नहीं तो, अपना ही सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे-मग-गामी ! दे दो,
दिव्य अप्रकट गुण पावन !

(१९१८)

(२१)

मैं सब से छोटी होऊँ,
तेरी गोदी में सोऊँ,
तेरा अंचल पकड़ पकड़कर
फिरूँ सदा मा ! तेरे साथ,
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ !

बड़ा बनाकर पहिले हमको
तू पीछे छलती है मात !
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे
साथ नहीं फिरती दिन रात !
अपने कर से खिला, धुला मुख,
धूल पोंछ, सज्जित कर गात,
थमा खिलौने, नहीं सुनाती
हमें सुखद परियों की बात !

ऐसी बड़ी न होऊँ मैं,
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं,
तेरे अंचल की छाया में
छिपी रहूँ निस्पृह, निर्भय,
कहूँ—दिखा दे चंद्रोदय !

(१९१८)

(२२)

निज अंचल में धर सादर,
वासंती ने यह नव कलिका
जो तुझको दी है उपहार,
हेम हासमय सुखद प्रात को
किया जगत का जो "शृंगार;

मा ! इस नव कलिका का तन,
कोमलता से कोमलतम,
इस निकुंज के काँटों से क्या
बिंध न जायगा अति असहाय ?
प्रखर दोपहर में दिनकर कर
सहन कर सकेगा क्या हाय !

क्या हिम का अकरुण आघात
सह लेगा इसका मृदु गात ?
यही निबल कलिका लतिका का
मा ! क्या वंश बढ़ाएगी ?
मधुप बालिका का क्या यह ही
मा ! मानस बहलाएगी ?

यह तेरी अति नूतन नीति
मा ! यह तेरी न्यारी रीति
तेरी सुखमय सत्ता जग को
कहाँ नहीं जतलाती है ?
जहाँ छिपाती है अपने को
मा ! तू वहीं दिखाती है !

(१९१८)

(२३)

हाय ! जगाने पर भी तो मैं
सजनि ! न अब तक जगती थी,
सोई थी मैं, इसीलिए तो
जग को भारी लगती थी !
स्वप्न देखती थी मैं मादक,
किन्तु अचिर, अस्फुट सुखमय,
लता कुंज में सोई हूँ मैं
सुरभित सुमनों पर निर्भय !

कभी पूछती हूँ पुष्पों के
प्याले में किसका यौवन
भर भर पिला रहे मधुकर को
हे ऋतुपति ! हे धरा रमण !

कुंज विहारी से कहती हूँ
कभी—मधुप ! निज मादक राग
इस कलिका के ढिंग मत गाओ,
नहीं जानती यह अनुराग !
वह निद्रा, सुख स्वप्न सजनि ! वे
एक साथ ही सब छूटे,
एक एक कर हृदय हार के
बंधन अब मेरे टूटे !
(१९२८

(२४)

मकड़ी का मृदु माया जाल
इस रसाल के सघन शाल में
जीवन शून्या के दृग जल का
पहने है शुचि मुक्तामाल !

आम्र मंजरी की मृदु वास,
विकसित किसलय, मधुमय हास,
इस वसंत में कितनों का है
अंत कर चुका अचिर प्रकाश !
फैला छबि के बाहु मृणाल !

× × × × ×

मा ! मेरे अरि को बल दो,
उसको यही कठिन फल दो,
जिससे सतत सतर्क रहूँ मैं,
निज अवलंब अचंचल दो,
सदा स्वेदमय रख यह भाल !

मुझे मृणाल तंतु से बाँध,
करना सफल न अरि की साध,
कठिन निगड़ से बँधवाकर मा !
धीरज देना अटल, अगाध;
निडर काल से कर विकराल !

(१९१९)

(२५)

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अंधकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम,
किसका करते हो अभिमान ?

तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाए हो छबिमान !
मेरे स्वागत भरे हृदय में
प्रियतम ! आओ, पाओ स्थान !

जब मैं अपने नयन मूँदकर
करती प्रियतम के गुण गान,
तब किस पथ से आ तुम मुझको
देते हो नित दर्शन दान ?

जग अदृश्य कर मेरे दृग से
प्रियतम में लगवा ध्रुव ध्यान,
तुम तुरंत ही, हे अनंतगति !
हो जाते हो अंतर्धान !

जब तुम मुझे गभीर गोद में
लेते हो, हे करुणावान !
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण !

प्रथम रश्मि का स्पर्शन कर नित,
स्वर्ण वस्त्र करके परिधान
तुम आश्वासन देते हो प्रिय,
जग को उज्ज्वल और महान !

जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गई जलाने निज अज्ञान,
तब तुम उसके चरणों में थे
पाए हुए सुखद सम्मान,

अपने काले पट में मेरा
प्रिय ! लपेटकर मत्सर मान
रंग रहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण !

(१९१८)

(२६)

बताऊँ मैं कैसे सुंदर !
एक हूँ मैं तुम से सब भाँति ?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक पाँति!

दिखा सकता है क्या शुचि सर
कभी अपना अनन्य समतल ?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल ?

कौन हो तुम उर के भीतर,
बताऊं मैं कैसे सुंदर ?

(१९१८)

(२७)

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन सा हिलकर अविरल
शीतलता सरसाने दो,
अपने मुख से जग चिंता के
श्रमकण सदय ! सुखाने दो !

वंशी सा सीधा बनकर,
तान सुनाकर श्रुति सुखकर,
मुझे प्रेम का नीरव मानस
सुंदर ! शब्दित करने दो,
अपने गौरव के गीतों से
प्रियतम ! उसको भरने दो !

नव वसंत का विकसित वन,
मधुमय मन, मृदु सुरभित तन,
एक कुसुम कलिका उस वन की
मुझको भी कहलाने दो,
मधुबाला का हृदय मनोहर !
मुझको भी बहलाने दो !

(१९१८)

(२८)

स्नेह चाहिए सत्य, सरल !
कैसा ऊँचा नीचा पथ है
मा ! उस सरिता का अविरल
तेरे गीतों को वह जिसमें
गाती है टल् टल् छल् छल् ।

मैं भी उससे गीत सीखने
आज गई थी उसके पास,
उसके कैसे मृदुल भाव हैं ?
उज्ज्वल तन, मन भी उज्ज्वल !

कितने छंदों में लहराकर
गाती है वह तेरे गीत ?
एक भाव से अपने सुख दुख
तुझे सुनाती है कल् कल् !

मा ! उसको किसने बतलाया
उस अनंत का पथ अज्ञात ?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल ?

एक ग्रंथि भी नहीं पड़ी है
उसके सरल मृदुल उर में,
उसका कैसा कर्म योग है,
वह चंचल है, या अविचल ?

(१९१८)

(२९)

तजकर वसन विभूषण भार,
अश्रु कणों का हार पहनकर
आज करूँगी मैं अभिसार !

यह नव मुकुलित लता भवन
गुंजित कुंज, विजन कानन

चिर उत्सुकता की छाया से
मौन मलिन हो रहा अपार !

हिला हिला निज मृदुल अधर
कहते कुछ तरु दल मर् मर्,

अंधकार का अलसित अंचल
अब द्रुत ओढेगा संसार !

दिखलाई देगा जग श्याम,
तृषित हो रहा मम हृद्धाम,

यह तृष्णा ही कौस्तुभ मणि बन
मुझे दिखावेगी वह द्वार,
बन उसका हृदयालंकार !

(१९१९)

(३०)

"मा ! काले रँग का दुकूल नव
मुझको बनवा दो सुंदर,
जिसमें सब कुछ छिप जाता है,
रहती नहीं धूलि की डर;
जिसमें चिह्न नहीं पडते, जो
नहीं दीखता है श्री हीन,
लोग नहीं तो हँसी करेंगे
देख मुझे मैली औ' दीन!"

"अरी अभी तू बच्ची ही है
कृष्णे! निरी अबोध, चपल,
मैं मलमल की साड़ी तुझको
बनवाऊँगी फेनोज्ज्वल;
दिखलाई दें जिसमें सबको
तेरे छोटे से भी अंक,
बार बार सहमे तू जिससे
रहे शुद्ध नित स्वच्छ, सशंक!"

(१९१८)

(३१)

कैसा नीरव मधुर राग यह
शिशु के कंपित अधरों पर
सजनि ! खिल रहा है रह रह !

किन स्वप्नों की स्मृति सुखमय
उदय हुई है यह अक्षय ?
आँखमिचौनी सी अधरों से
कौन खेलता है छिपकर,
मृदु मुसकानों में बह बह !

अलि ! यह किसका सरल हृदय
अधरों पर बिम्बित छबिमय ?
यह किसकी जीवित छाया है ?
किस नव नाटक का उपक्रम ?
किन भावों का चित्र चरम ?

अये मृदुल ! यह किसके गीत
गाते हो तुम मधुर, पुनीत ?
प्रकट क्यों न कुछ कहते हो ? क्या
वे इतने हैं गुप्त, परम ?
यह कैसा परिहास, सुषम !

(१९१९)

(३२)

कर पुट में पुष्पांजलि धर
अश्रु नीर से मानस भर,

तेरा गौरव गाती हूँ मैं
अवनत वदना हो जब प्रात,
तुझको नित्य बुलाती हूँ मैं
सजल लोचना हो जब मात !

धारण कर तेरा ध्रुव ध्यान,
दृग सम्मुख ला मूर्ति महान,

नयन मूँद लेती हूँ जब मैं
तुझको निज मन में अनुमान,
गद्गद हो रो देती हूँ मैं
जब अति भावाकुल हो प्राण !

जब मेरा चिर संचित प्यार
उमड़ उदधि सा अतल, अपार,

अपने नीरव गूढ़ गर्भ में
मुझे डुबाता है गंभीर,
द्रोह, मदन, मद का मल मेरा
धो देता है जब दृग नीर !

तब मेरे सुख का अनुमान
क्या तू कर सकती है प्राण !

कह ? क्या तू भी गा सकती है
इतने सुख से अपने गीत ?
कभी देख सकती है तू भी
क्या अपनी यह मूर्ति पुनीत ?

मा ! तेरा अति रम्य स्वरूप,
तेरे गुण गण अतुल, अनूप,

नयन नीरजों में तेरे भी
बँधते हैं, बन चोर अजान ?
क्या तुझसे भी लेते हैं ये
कभी स्नेह मधु सिंचित दान ?

सर्व शक्तिमत्ता तेरी
यह क्या नहीं जननि ! मेरी ?

यह मुझको ही तो तापों से
रक्षित रखती है दिन रात,
तुझे तभी तो मैं अपने से
दुर्बल बतलाती हूँ मात !

(१९१८)

(३३)

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !
जहाँ मलिनता विचर रही है,
जहाँ शून्यता का है स्रोत।

सदन लौटता हुआ प्रवासी
तप्त अश्रु जल अंजलि दे,
पूत कर गया था जिस तरु को
सकल स्वार्थ की निज बलि दे।

क्षीण ज्योति में निज, किसका धन
ढूँढ़ रहे हो कर तम भंग,
किस अज्ञाता के जीवन को
ज्योतित हो कर रहे, पतंग ?

उस निर्दोषा का क्या जिसकी
वायु भक्षिणी वेणी में
पड़कर तड़पा हाय ! प्रवासी
लुटे हुओं की श्रेणी में !

किंतु शलभवर ! उसे न छेड़ो,
सोने दो उसको उसपार,
वहीं स्वप्न में पा लेगी वह
अपने प्रियतम का उपहार !

जब जीवन के स्रोत सम्मिलित
हो जाते हैं किसी प्रकार,
उन्हें नहीं तब बिछुड़ा सकता
सखे ! स्वयं तारक करतार !

(१९१८)

(३४)

निर्झर की अजस्र झर् झर् !
आओ, मन ! नव पाठ सीख लो
इस गिरि निर्झर के रव से,
यह निर्मल जल स्रोत गिर रहा
गिरि के चरणों में कब से !
अपनी वीणा में स्वर भर,—
आओ, इसके पास बैठकर
यह अनंत गाना गा लो,
इसका उज्ज्वल वेग देख लो,
तुम भी दृगजल बरसा लो !

निर्झर की निर्भय झर् झर् !
निबल ! देख लो शीतल जल में
अंतर्हित इच्छा की आग,
भूरि भिन्नता में अभिन्नता,
छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग !
गा लो वीणा में स्वर भर,—
जो न अश्रु अंजलि देता हो
वह क्योंकर सुख पाएगा ?
जिसे नहीं देना आता हो
वह किससे कैसे लेगा ?
फिर गिरि निर्झर की झर् झर् !

(१९१९)

(३५)

विलोड़ित सघन गगन में आज,
विचर रहा है दुर्बल घन भी
धर कर भीमाकार,—
बना है कहीं—क्रुद्ध गजराज !
गर्जन सुनकर काँप रहा है
मा ! कर्तव्य अपार,—
चपल करती है पल पल गाज !

भिखारी बन सारंग समाज
उधर पुकार रहा है पी, पी,
गूँथ अश्रु जल हार,—
जननि ! करने तेरा श्रृंगार,
परीक्षा का कठोर ले ब्याज !
अभी दयामयि ! क्या न खुलेगा
तेरा मुक्तागार ?—
छिपी मरुथल में जल की धार
वृष्टि के बाद नीलिमोद्धार ?

(१९१८)

(३६)

कुमुद कला को लेने जब मैं
रोई थी निज बचपन में,
तब मेरी मा कहती थी वह
रहती है नभ के वन में!

पर शिशुता वश नहीं सुना था
मैंने उसका समझाना,
तब मा ने था मुझे मनाया
दिखला शशि छबि दर्पण में!

मैं तब कितनी अनभिज्ञा थी!
प्रतिबिम्बित शशि को पाकर
मुसकानों में गा कर उससे
क्रीड़ा करती थी मन में!

यही सोचती थी शशि बाला
सचमुच मेरे कर में है,
आनंदित होती थी उसको
पा उस प्रतिमा पूजन में !

धीरे धीरे अब तू अपना
दिव्य द्वार है खोल रही,
पल पल अपनी प्रयत प्रभा है
प्रकटाती इस जीवन में !

मा, वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छबि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण में ?

(१९१८)

(३७)

"मा, अल्मोड़े में आये थे
जब राजर्षि विवेकानंद,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमंद;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि, नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा,
मंद दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे, स्वामीजी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कंटकमय;
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के !"

(१९१८)

(३८)

उस विकसित, वासित वन में
कुसुमों के अस्फुट अधरों पर
सिहर रहा है कौन विकल,
अलि, चंचल होकर पल पल !

यह किसका नादान हृदय
बहा चुका है बल संचय ?
तुहिन बिंदु बन ढुलक रही है
किसकी जीवन विजय धवल,
सजनि, मोह से हो निर्बल !

वह जाग्रति का जीवित गीत,
अलि बाला गाती सुपुनीत,
गूँज उठे इस मधु सेवा से
दुर्बल हृदयों में नव बल,
जीवन का, जग का मगंल !

(१९१९)

(३९)

लतिका के कंपित अधरों से
यह कैसा मृदु अस्फुट गान
आज मंद मारुत में बहकर
खींच रहा है मेरा ध्यान !

किस प्रकाश का गूढ़ चित्र यह
आज धरित्री के पट पर
पत्रों की मायाविनि छाया
खींच रही है रह रहकर !

छबि की चपल अँगुलियों से छू
मेरे हृत् तंत्री के तार
कौन आज यह मादक, अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार !

महानंद का क्या ऐसा ही
नीरव होता है संगीत ?
मनोयोग की वीणा मेरी
मा, जिसने की आज पुनीत !

(१९१९)

(४०)

श्रूयते हि पुरा लोके—

विस्तृत मरु थल के उस पार
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार,

छबि के वन में एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं,
कलित कल्पना की डाली में
जो अतीत से भूली हैं;
जो मधु, धूलि, सुगंधि रहित हैं
दिव्य रूप करतीं विस्तार,
जहाँ स्वर्ण की आशा अलिनी
गाती है, कर स्वप्न विहार !

जब यह मरु रवि के आतप में
तप्त छोड़ता है निःश्वास,
उस छबि के वन में ऊषा का
रहता है तब भी मृदु हास!
वह सोने की आशा अलिनी
करती है जब मृदु गुंजार,
तब सुख हँसता, औ' दुख गाता,
विश्व दीखता एकाकार!

उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है!
बालू का प्रति कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरित की धार!

(१९१९)

(४१)

मुझे सोचने दो सजनी—

एक विहग बालिका बनी

आज अकेली बैठी हूँ मैं

उस नीरव तरु के ऊपर,

जहां स्वप्न हैं रहे विचर !

पत्रों के मृदु अधरों से

जहाँ शून्य संगीत प्राण का

फूट रहा है अभय, अमर !

ये पीले-पीले प्रियतर

अंतिम आभा के कृश कर

मेरा स्वर्ण सदन स्वप्नों का

छीन रहे हैं छिप छिपकर !

आओ शिव ! आओ सुंदर !

मुझे सौंपने दो तुमको

अपनी वांछाएं रज कण सी,

होने दो निश्चिन्त, निडर !

निज वियोग की बाँहों में

मुझे सदा को बँध जाने दो,

फिर चाहे मेरा अंतर

अंधकार होवे दुस्तर !

(१९१९)

(४२)

मधुरिमा के मृदु हास !
किस अदृश्य गुण से तुम मुझको
खींच रहे हो पास ?
सुनाई देता है बस गीत,
बुलावे की यह कैसी रीति ?

हृदय के सुरभित साँस !
चपल पलक से छूकर मुझको
निर्बल कर, किस ओर,
भुलावे में तुम कुसुम कठोर!
बहाते हो? न कहीं है छोर !

बैठकर मैं इस पार,
शून्य बुद्बुदों से सुनती हूँ
जीवन का संगीत,
तुम्हारा मौन निमंत्रण, मीत !
विश्व का अंतिम गान पुनीत!

कहाँ हो कर्णाधार !
लघु लहरों में खेल रही है
मेरी हलकी नाव,
न तुमसे है प्रिय ! तनिक दुराव
जानते हो सब मन के भाव !

(१९१९)

(४३)

तरल तरंग रहित, अविचल,
सरसी के जल का समतल
नहीं दिखाई देता ज्यों मा !
बिना हिलाये उसका जल;
अपनी ही छबि का प्रतिफल
प्रतिबिम्बित होकर अविरल,
दिखलाई देता ज्यों अविकल
उसके समतल में निश्चल।

वैसे ही तेरा संसार
अति अपार यह पारावार,
नहीं खोलता है मा ! अपने
अद्भुत रत्नों का भंडार,
प्रत्युत, अपने ही शृंगार,
(तुलसीमाला या मणिहार)
मा ! प्रतिबिम्बित होकर इसमें
दिखलाई देते निस्सार !
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार,
दिखलाई देती तब इसकी
विश्वमूर्ति अति सदय, उदार !

(१९१८)

(४४)

श्रवण चाहिए अलि ! केवल,—
केकी की मृदु केका ध्वनि सुन,
चौंक, जग पड़ी थी मैं कल,
मैंने देखा तो आँगन में
नाच रही थी वह अविरल।

जिसे देख वह नाच रही थी
मैं वह सब थी समझ गई,
अह! वह वर्षा ऋतु! वे वारिद!
वह मेरा अविरल दृग जल !

मैंने नभ पर वक्र भृकुटि कर
मौन दृष्टि जब डाली थी,
तब अकरुण घन घोष हुआ था,
चमकी थी चपला चंचल !

हाँ, प्यासी पी पी ध्वनि सुनकर
पिघल पड़े थे तब घनश्याम,
पर न पपीहा तृप्त हुआ, हा !
कैसा था वह विरहानल !

वह भी उसका ही प्यासा था
जिसका पथ मैं तकती थी,
श्रवण कर चुकी थी वह केकी
जिसका नूपुर नाद नवल ।

(१९१८)

(४५)

आँखों के अविरल जल को
मत रोको, मन ! मत रोको !

इस भीषण घन में सुंदर
छिपा हुआ है मुक्ताकर,

इसी अश्रुजल में वह मुख
अवलोको, मन ! अवलोको !

इस गर्जन में गौरव गान
मिला हुआ है, दो हे कान,

इसी चंचला में है बल,
मत चौंको, मन ! मत चौंको !

इसी मलिनता में निर्मल
छिपा हुआ है शीतल जल,

इस तम में ही है प्रियतम,
अवलोको, मन ! अबलों को !

लुटने ही में है संयोग,
जुटने ही में मेल अमोघ,

कुंठित ही क्यों हो न कृपाण,
पर, भौंको, निर्भय भौंको !

(१९१८)

(४६)

तुम्हारे कोमल अंग,
विधुर उर के तारों में आज
गा रहे हैं क्या अस्फुट गीत ?
छिपे थे जो स्वर सहज पुनीत
विकल क्यों हुए आज निर्व्याज ?
निठुर वाणी का ढंग !
शब्द का गौरव, स्वर का स्पर्श
हो गया है-क्या विभव विहीन !
दिखाने को यह रूप नवीन
हो गये क्या निरर्थ आदर्श ?
आज अज्ञेय अनंग !
धूम की खिली स्फीति सी घूम
ऊर्मियों में छबि की अनुकूल,
लीन हो जाऊँ मैं, सब भूल,
दूर से अधर तुम्हारे चूम !
मुझे अज्ञात उमंग,
बहाती है कब से, किस ओर !
कौन जाने ? पर मेरे नाथ !
न छूटे इस अतृप्ति से साथ,
सदा ही रहे अविकसित भोर,
स्वप्न मत हो यह भंग !

(१९१९)

(४७)

तब फिर कैसा होगा मात !
धीरे धीरे पक्ष हीन जब
हो जावेगा यह द्विज दल,
डाल डाल में, शाल शाल में
उड़ न सकेगा उच्छृंखल;
मुरझे फूलों सा जब भू पर
गिर जायेगा हो निर्बल,
गा न सकेगा जब मृदु स्वर से
प्रथम रश्मि का स्वागत कल ?

(४८)

नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !
झंझावात ! प्रलय ! भूकंप !
वह्नि ! बाढ़ ! उल्का ! दृढ़ शम्ब
तृष्णा का वह भीषण तांडव
अंत हुआ है आज प्रचंड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

पश्चिम के रक्तार्णव में
रक्त हस्त विद्वेष चक्र वह
अस्त हुआ है आज अखंड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

\+ + + + +

एक तिमिर की गहरी आह,
द्रुत भर दे यह गर्त अथाह !
एक नाद का यहीं अंत हो
डम् डम् डमरु बजे फिर शांत !
उठो भ्रात ! अब जागो मात !
किनकी अमृत शुभाशाएँ—
वह, प्राची से ज्योतिर्मय-कर
बढ़ा रही है मंगल, कांत ?
सुखमय हो यह नवल प्रभात !

(११ नवंबर १९१९)

(४९)

छोटे ही की क्या पहचान ?
उषा उदय में मधु बाला थी
गाती तेरा गौरव गान,
वही मधुर स्वर चुरा आज मैं
रोने बैठी थी अनजान !

सौरभ वेणी खोल रहा था
तेरी महिमा को, पवमान,
वही आज अविरल आहों से
मैं फैलाती थी,—हा ! प्राण !

कमल क्रोड़ में कुमुद किरण ने
जिसे दिया था जीवन दान,
मेरी आँखों में अटका था
ओस बिंदु वह अति नादान !

पलक युगल नवदल खुलते ही
उसके जीवन का अवसान
स्मृति पट पर अब तक अंकित है,
उस अजान का वह बलिदान !

तेरी ही छबि प्रतिविम्बित सी
मुझको उसमें मिली महान्,
मा! तू क्या लघु कण में भी है?
तब क्या मैं ही थी अज्ञान ?

(१९१८)

(५०)

चपल चपलों के साथ
दबा मेरा दुर्बल दिल, प्राण !
सुन रहे हो क्या चूर्णित गीत ?
बेसुरी, बिखरी, टूटी तान
तुम्हें क्या भाती है विपरीत !

निराली छबि के हाथ
पकड़कर मेरी पीली बाँह,
खींचकर मुझको अपनी ओर,
छोड़ते हैं यह कहाँ—अथाह !
भूलने का है क्या कुछ छोर ?

तुम्हीं जानो हे नाथ !
चमककर मेरे पथ में प्रात
आँख अटकाती है यह कौन !
धूलि की ढेरी में अज्ञात
छिपी है क्या मेरी जय मौन ?

नवाती हूँ मैं माथ,
विनत वदना नलिनी सी प्रात;
अश्रु जीवन का रख उपहार;
अरुण पद चिह्न तुम्हारे तात !
स्पृहा से भर अपनी सुकुमार,
खोल अपलक दृग द्वार !

(१९१९)

(५१)

मरु भी होगा नंदन वन !
मा ! जब मैं तुझसे अजान थी
तब कैसा था मेरा मन !
कैसा नीरव लगता था तब
यह मृदु कलरव भरा भुवन !

विहग बालिका की बोली तब
विभव नहीं बरसाती थी,
केशर के शर मार गंधवह
खिला न सकता था तन मन !

नहीं मधुकरी भी गाती थी
मधुर मधुभरी वीणा में,
जग को देख नहीं सकते थे
स्वावलम्ब के शत्रु नयन !

किन्तु हुआ जब तेरा मेरा
प्रथम रुचिरतम सुख संयोग,
स्वर्ण वर्ण तब कैसा सुंदर
मेरा हुआ जननि, नूतन !

कितने मधुर स्वरों में गाये
विहगों ने गुण गौरव गीत,
तब कैसा खिल गया अखिल जग
नवल कमल का सा कानन !

क्षीण क्षपाकर की छाया में
छिपी हुई थी मैं पहिले,
नहीं जानती थी मा ! तेरी
प्रयत प्रभा की प्रथम किरण—

मुझको इतना गौरव देगी
छूकर मेरा म्लान वदन;
मेरी सोने की भावी के
भूषण हैं इतने भावन !

इतने कोमल कमल मधुप दल
मुझ में फूले पावेगा,
इतने पथ भूले दृग मेरा
अभी करेंगे अभिवादन !

मैं इतनों की सुख सामग्री
हूँगी जगती के मग में,
शोक मुक्त होंगे द्रुत कितने
कोक मुझे कर अवलोकन !

(१९१८)

(५२)

अँगड़ाते तम में
अलसित पलकों से स्वर्ण स्वप्न नित
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात !
आओ, सुकुमारि विहग बाले !
अपने कलरव ही–से कोमल
मेरे मधुर गान में अविकल
सुमुखि ! देख लो दिव्य स्वप्न सा
जग का नव्य प्रभात !

है स्वर्ण नीड़ मेरा भी जग उपवन में,
मैं खग सा फिरता नीरव भाव गगन में,
उड़ मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृण में, कण में !
कल कंठिनि ! निज कलरव में भर,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन वन, घर घर,
नाचें तृण, तरु, पात !

(१९१९)

(५३)

तिलक ! हा ! भाल तिलक !
छुड़ा दिया किस अकरुण कर ने
यह शोभालंकार ! !
जाति की आशा का संचार !
पुरातन वेदों की झंकार !

अश्रु नयन निशि के आँगन में
बिखर गया अनजान
आज गीता रहस्य का गान !
कोटि त्रय कण्ठों का प्रिय प्राण !

कर्मयोग की टीका अविकल—
कहाँ गया मा की गोदी का
हाय ! केसरी बाल !
स्वगति में गंगा सा अविचल !
देश की धूलि से भरा लाल !

(१९१८)

(५४)

सखी ! सूखी बिन्दाल
सन्मुख बहती है वह नीरव,
निःसलिला, कंकाल !
गिरी, बिखरी स्मृति सी प्राचीन,
अतृप्त, अकथ वियोग सी दीन !
अचिर लालसा सी निर्बल वह,
वैभव सी कंगाल !
समय के पद चिह्नों सी क्षीण
स्वप्न संसृति सी आज विलीन !

चिकनी चुपड़ी उपल राशि वह
नीली, पीली, लाल,
बाल लीला सी मेरी आज
खो चुकी निर्मलता का साज !
अह, उन कोमल पद चिह्नों से
कैसी अस्फुट चाल
दबाती है उर को तत्काल,
कहाँ सूखी है सखि ! बिन्दाल ?

(१९२०)

(५५)

तेरा अद्भुत है व्यापार !

तुझको कबसे बुला रही थी
मैं पुकार कर बारंबार,
विकसित वदना, वासित वसना
बनी हुई, सज शत शृंगार !

स्वर्ण सौध शुचि बनवाये थे
मैंने कितने उच्च, अपार,
विप्र बालकों ने गाये थे
तेरे गुण गण जहाँ उदार !
अगणित मुद्रा दान दिये औ'
किया सभी कुछ शिष्टाचार,
किंतु वहाँ मा ! नहीं सुनाई
तूने निज नूपुर झंकार !

जब नंदन की चम्पा कलिका
कहलाती थी मैं सुकुमार,
नहीं कान की थी तब मैंने
मधु बाला की भी गुंजार !
मेरा सौरभ चुरा चुराकर
मारुत करता था संचार,
किंतु वहाँ भी तूने मुझको
नहीं बनाया उर का हार !

हाय ! अंत में अवनत वदना,
अश्रु लोचना हो लाचार,
अतिशय दीना, विभव विहीना
हो जब मैंने सर्व प्रकार,
क्षीण क्षपाकर की छाया में
नलिनी बन, की करुण पुकार,
मा ! तब तूने मुझे दिखाई
अपनी ज्योतित छटा अपार !

(१९१८)

(५६)

मेरे इस अंतिम विलास में,
—जब कि भग्न आशाएँ मेरी
एकत्रित हो आज,
सजाती हैं मुझको निर्व्याज,
(नवल बल, नव सुख, नूतन साज!)

—जब कि पराजय पागलपन बन
करती है उपहास—
कहाँ है प्रेम? कहाँ विश्वास?
आत्म बलिदान?—किसे है प्यास?

कौन कौन तुम इस मदिरा के
कनक हास से भीत
गा रही हो यह बेसुर गीत—
'कठिन कर्तव्य!'—किसे है प्रीत?

वहाँ, स्वर्ण सिंहासन मेरा
सज्जित है उस ओर,
जहाँ मेरी आशा की भोर!
जल रही है ज्वाला बन घोर!

पश्चिम की अंतिम किरणों में—
बना रही है, वह, मेरा पथ
पतित पदों की धूल,
भग्न मन विरह वेदना भूल
जहाँ ओढ़ेगा दग्ध दुकूल!

(१९१९)

(५७)

हृदय के बंदी तार
मुक्त कर रहे हैं माखन से
भाव सहज सुकुमार,
सुदामा के लघु 'चाउँर चार',
भीलनी का जूठा उपहार !

आज उगा था कलापूर्ण वह
दिव्य चक्र सा चाँद
नील यमुना का कल् कल् नाद
सरस दधि के मटकों का स्वाद !

ब्रजभाषा का 'अमी', कुंज की
'दई ! ढीठ गुंजार !'
सूर के संगीतों का सार,
दिव्य गीता रहस्य का द्वार !

सखी ! द्रौपदी के दुकूल सा
अप्रमेय, अज्ञात,
चोर, कौस्तुभ कठोर विख्यात,
नहीं सुनता हा ! तब से बात !

(१९२०)

(५८)

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी से जुगनू नाना;

शशि किरणों से उतर उतरकर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मंडप ताना;

कूक उठी सहसा तरुवासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अंध गर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना;

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्री हीन,
कमल क्रोड़ में बंदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना;

मूर्छित थीं इंद्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना;

तूने ही पहले बहु दर्शिनि!
गाया जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभ चारिणि!
गूँथ दिया ताना-बाना!

वीणा

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर,
हिल मोती का सा दाना;

खुले पलक, फैली सुवर्ण छबि;
खिली सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि,
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे, बाल विहंगिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

(१९१९)

(५९)

गहन कानन !
व्रत से पोषित विघ्न सदृश पावस नद गर्जन
करता है गति रोध—
नियति सा कुंचित, कोमल दर्शन !

प्रतिहिंसा सी, कायरता सी,
वह, पीछे करवाल
चमकती है कैसी विकराल ?
हँस रहा हो ज्यों असमय भीषण !
छोड़ अंतिम निःश्वास—
वायु गति से हो नद के पार
शूर स्वामी का कर उपकार,
जा रहा है, वह, सखि ! उसपार
आज प्रभु भक्त प्रहत, लोहित तन !
करुण नयनों की नीरव कोर
डाल निश्चल स्वामी की ओर,
अर्ध हिनहिना, अश्रु जल छोड़,
दृगों में मूँद चरम छबि पावन !
—"कहाँ हाय ! सुख दुख के सहचर !
चेतक ! चेतक ! मुझे छोड़कर—
कहाँ चल दिये—तुम असमय पर—
हा————मेरे रण भूषण ! ! !

(१९२०)

(६०)

इस विस्तृत हॉस्टल में
मैं सुनती हूँ
मेरा भी है सखि ! छोटा सा रूम,
जहाँ मेरी आकांक्षा सूम
गूँजती है प्रतिपल को तूम !
इन असंख्य मृदु कंठ स्वरों में,
मिला हुआ है अलि ! मेरा भी
कंपित स्वर अति दीन,
रुँधी दुर्बलता की ध्वनि क्षीण
डूबती है जिनमें हो लीन !

शून्य हृदय दुर्विघ्न गेंद-से
ठुकराकर अविराम,
साथ, मैं भी जीवन का काम
गोल पाती हूँ अति अभिराम !

× × × × ×

उठो सजनि ! घंटे की ध्वनि में
गूँज रहा है, सुनो, हमारा
प्रिय कर्तव्य कठोर !
जाति सेवा की उज्ज्वल भोर
बढ़ाती है, वह, कर इस ओर !

(१९२०)

(६१)

यह दुख कैसे प्रकटाऊँ !

अभी बालिका हूँ मैं तो,
मैं तुझको क्या पहनाऊँ ?
मेरे कैसे गहने होंगे
जिनको ले सम्मुख आऊँ ?

तो क्या अस्फुट कलियों ही की
माला पहना दूँ तुझको ?
किंतु उन्हें भी देवि ! गूँथकर
कैसे सेवा में लाऊँ !

जब मैं ऋतुपति के उपवन में
मा के सँग थी गई प्रभात,
मैंने पूछा—'मा ! पूजा को
मैं भी माला निर्माऊँ ?'

मा ने सूची मुझे नहीं दी,
कहा—'अभी तू बच्ची है।'
अश्रु हार ही पहना तब क्या
मैं चरणों को नहलाऊँ ?

नहीं,—न जाने इनमें क्या है
जो दिल को है दुखा रहा,—
मा ! क्या डालूँ गले और तब ?
क्या बाँहों को लिपटाऊँ ?

हाँ, ले, मेरी 'हार' यही है,
यही तुझे पहनाऊँगी,
दोनों बाँहें गले डालकर
मैं अंचल में छिप जाऊँ !

(१९१८)

(६२)

दिवानाथ का विपुल विभव जब
मेरी आहों से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में
वह्नि ज्वाल बन एक कराल।

किस प्रकार तब अंधकारमय
हौले थी हो गई मही!
तस्करिणी सी तन्द्रा सबकी
सुधि थी चुपके छीन रही।

चित्र चित्रिता सी, विलोक यह,
मैं भय से हो गई विकल,
कहाँ छिपाऊँ निज मणि मुक्ता
यही सोचती थी केवल !

किंतु खड़ी होकर तब मैंने
उनको ऊपर उठा त्वरित,
बाँध वायु के बाल जाल से,
नभ में लटका दिया मुदित।

निश्चिता हो, खड़ी खड़ी मैं
उन्हें देखती थी अविरल
तुलसी आँगन के दीपक में
जब तुझको देखा उज्ज्वल।

मंद मंद तू मुसकाती थी
दीप शिखा में खिल मंजुल,
फैल रही थी तेरी आभा
तुलसी अंचल में संकुल !

शलभ पुंज अर्पण करता था
तुझे प्राण अपने अविरत,
मुनि कन्याओं से वह जिसका
था महत्व सुन चुका महत ।

पर मैं उसके आत्मत्याग को
अधिक न देख सकी उस बार
हौले मेरा हृदय हो गया
हाय ! एक तब हाहाकार !

मैंने निज मणि मुक्ताओं को
मारुत से माँगा उठकर,
पर न उन्हें पा सकी जननि ! मैं
अर्पण करने को तुझ पर ।

व्याकुल हो निज करुण कथा तब
तुझे सुनाने मैं आई,
पर तेरे ढिंग आ, वह मैंने
स्वयं गूँजती सी पाई !

रोई मैं निज मुक्ताओं को
तेरे सम्मुख हाहा कर,
अपना दारुण दुख भी मैंने
तुझे सुनाया गा गाकर !

शलभ पुंज के सदृश हाय ! मैं
जला न उसको सकी वहीं,
अपने कृत्यों की छाया सी
मैं अविरत थी काँप रही !

अपनी ही मणियों की आभा
मैं न और कर सकी सहन,
अधिक न रोई मैं फिर उनको,
मूँद लिये मैंने लोचन !

तूने तब मुझ सत्व विहीना
दीना पर अति करुणा की,
मूक तिमिर की भाँति मुझे भी
निज चरणों की छाया दी।

तब शलभों ने पूछा तुझसे
कहाँ गई वह भीरु मना,
जो तारों को मोती बतला
कलप रही थी नत वदना ?

अपने कोपानल में तूने
जला दिया क्या उसे प्रबल ?
या उसके ही अपराधों से
बाँध दिया उसको निश्चल ?

मंद मंद मुसका मन में तू,
बोली तब उनसे सप्रेम—
'वह निर्दोषा तो माया थी'
उसका ऐसा ही है नेम !

'जब तुम फूलों में फूले थे
मुझसे मिलने के पहले,
तब तुम उसमें ही भूले थे,
उसमें ही थे मुग्ध, मिले !'

(१९१८)

(६३)

मिला मिलाकर सुंदर स्वर
अपनी वीणा में मृदुतर,
इन थोड़े से गीतों को मैं
गा लूँगी जब तेरे, मात !'
—यही सोचती थी मैं नित्य,
'ऊषा में स्नेहांजलि भर,
मोह, मदन, मद की बलि कर,
तब क्या गाकर खेलूँगी मैं ?
निज जीवन की प्रमुदित प्रात,
मंद मंद कर मंजुल नृत्य !'

तू मुझको अति चिन्तित जान,
समझ निपट नादान, अजान,
बोली थी—'मैं बतलाऊँगी,
तुझको अपने गीत पुनीत ।'
नूपुर ध्वनि कर श्रुति सुखकर !
पर अब करती हूँ अनुमान
मुझमें कितना था अज्ञान !
जीवन भर भी मा ! मैं पूरे
गा न सकूँगी तेरे गीत,
अपनी वाणी में स्वर भर !

(१९१९)

ग्रंथि

लेखक
श्रीसुमित्रानंदन पंत

विज्ञापन

ग्रंथि मैंने सन् १९२० के जनवरी मास में लिखी थी। उच्छ्वास की तरह इसका कथा भाग भी बहुत थोड़ा है, पर शायद स्पष्ट उससे अधिक। छंद तुकांत नहीं। अतुकांत का सौंदर्य स्वरूप तब मेरे हृदय में प्रस्फुटित नहीं हो पाया था, अपने साहित्य में उन दिनों जैसा ढंग प्रचलित था उसी के अनुरूप मैंने भी किसी तरह अपनी इस कहानी को यह बेतुका लिबास पहना दिया। पर हिन्दी में बड़ी ही मनोहर तथा परिपूर्ण प्रास-हीन-सृष्टि हो सकती है। ग्रंथि के प्रेमियों के सन्मुख मैं भविष्य में अतुकांत अगों की अधिक सुगठित प्रतिमा प्रस्तुत करने की आशा रखता हूँ।

१७ मई
१९२९

श्री सुमित्रानंदन पंत

ग्रंथि

एक बार—

एक बार बिंधे हृदय को बाँधकर
कल्पने, आओ, सजनि, उस प्रेम की
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः
खोजने खोए हुए निज रत्न को।
तरुणता की उन तरंगों में तरल
झूल लेवें चपल मीनों सा, सहज
फेन के मोती पिरो सुख सूत में
बुद्बुदों सा गीत गा लेवें मधुर।

एक पल जग सिंधु का गंभीर गीत
आज पुलकित वीचियों में डूब जा !
हम प्रणय की सदय मुख छबि देख लें
लोल लहरों पर कलापति से लिखी !
पवन के उभरे गगनमय पंख-से
परम सुख के उस विशाल विलास में
शरद घन सा लीन हो, गिर पलक सा,
भूल जावें, अल्प, विरही विश्व को !

वह मधुर मधु मास था, जब गंध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप दल;
रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से।
जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएं अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से।

रुचिरतर निज कनक किरणों को तपन
चरम गिरि को खींचता था कृपण सा,
अरुण आभा में रँगा था वह पतन
रज कणों सी वासनाओं से विपुल ।
अचिरता से सहज आभूषित हुईं
कीर्ति कितनी हैं नहीं छिपतीं अहा !
सांध्य महिमा सी, प्रभा अवसान से,
वाम वर्द्धित अल्पता में, तिमिर में ।

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में;
सांध्य निःस्वन-से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय होगया ।
बुद्‌बुदे जिन चपल लहरों में प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर,
अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान में
हृदय की लहरें हमारी सो गईं ।

× × × ×

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
(कौन जाने, किस तरह?) पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित नि:श्वास था
पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा।
मधुप बाला का मधुर मधु मुग्ध राग
पद्मदल मे संपुटित था हो चुका,
काम्य उपवन में प्रथम जब था खिला
प्रणय पद्म कुमुद कली के साथ ही।

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से।
वह उपाय विहीन, पर आशामयी,
स्नेह दृष्टि अनन्य कोमल हृदय की
करुण मंगल कामना से थी भरी;
हाय! केवल मात्र साधन दीन की!

नित्य ही मानव तरंगों में अतल
मग्न होते हैं कई, पर इस तरह
अमृत की जीवित लहर के बाँह में
जगत में कितने अभी झूले भला ?
चपल जीवन की तरी भी, विश्व में
डूबती ही है, भँवर सी घूमकर,
मग्न होकर किंतु सबको सहज ही
नाव मिलती है नहीं यों दूसरी ।

इंदु पर, उस इंदु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य में ।

'सलिल शोभे! जो पतित, आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरंग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः ?
प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकाश दोगी तुम उसे ?
मलिन उर छूकर तिमिर का अरुण कर
कनक आभा में खिलाते हैं कमल,
प्रिय बिना तम शेष मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्हीं प्रिय कांति हो।

'यह विलम्ब! कठोर हृदये! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नहीं ?
निठुर का मुझको भरोसा है बड़ा,
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।

म्लान तम में ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्त्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकंपित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।

प्रिय! निराश्रिति की कठिन बाँहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से,
अल्पता की संकुचित आँखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।
'दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस, प्रिये!
क्षीण करुणालोक का भी लोक को
है बृहत् प्रतिबिंब दिखलाता सदा।

शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता की आड़ से?

'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा ?'

इंदु की छबि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

'नाथ !' कह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई;
उस अनूठे सूत्र ही में हृदय के
भाव सारे भर दिए, तावीज-से।

देख रति ने मोतियों की लूट यह,
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बंद कर
अधर विद्रुम द्वार अपने कोष के।
वह स्पृहा संकोच का सुंदर समर
अधर कंपित कर, कपोलों पर युगल
एक दुर्बल लालिमा में था बहा;
(विश्व विजयी प्रेम! औ' यह भीरुता!)

सुभग लगता है गुलाब सहज सदा,
क्या उषामय का पुनः कहना भला ?
लालिमा ही से नहीं क्या टपकती
सेब की चिर सरसता, सुकुमारता ?
पद नखों को गिन, समय के भार को
जो घटाती थी भुलाकर, अवनितल
खुरच कर, वह जड़ पलों की धृष्टता
थी वहाँ मानो छिपाना चाहती।

प्रथम केवल मोतियों को हंस जो
तरसता था, अब उसे तर सलिल में
कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद
लालसा पल पल विकल थी कर रही।
प्रेमियों का कोश सा कोमल हृदय
कोटि-कर सौंदर्य के कृश हाथ में
सहज ही दब कर, नवल आसक्ति से
फूल उठता है पुनः उन्मत्त हो !

रसिक वाचक ! कामनाओं के चपल,
समुत्सुक, व्याकुल पगों से प्रेम की
कृपण वीथी में विचर कर, कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला ?

एक प्रातः—

एक प्रातः स्वर्ण कर रवि के समुद
निज सुपरिचित वदन से थे खेलते,
कर्णमुक्ता चूम कोई गाल पर
प्रतिफलित थे ओस बूँदों-से धवल।
बैठ वातायन निकट, उत्सुक नयन
देखती थी प्रियतमा उद्यान को,
पूछता था कुशल फूलों से जहाँ
मधुर स्वर में मधुप, सुख से फूल कर।

भीग मालिन की तरल जलधार से
एक मधुकर मूल में गिर कर, सजल
भग्न आशा-से छदों को पोंछ कर
पुनः उड़ने को विकल था हो रहा ।
मंद मारुत से वसंती झूम कर
झुक रही थी तरल तिरछी पाँति में
ललित लोल उमंग सी लावण्य की
मानिनी सी, पीन यौवन भार से ।

तूल सी मार्जार बाला सामने
निरत थी निज बाल क्रीड़ा में—कभी
उछलती थी, फिर दुबक कर ताकती,
घूमती थी साथ फिर फिर पूँछ के ।
मंद मुसकातीं, चपल भ्रू वीचि में
हृदय को प्रतिपल डुबातीं, आज भी
संगिनी सखियाँ वहाँ आईं, सहज ।
हास औ' परिहास निरता, दोलिता ।

देख कर अपनी सखी को पलक सी
ध्यान लग्ना, एक ने संकेत कर,
यों वयस्या से दबे स्वर में कहा——
'मग्न है नव कमल वन में हंसिनी !'
लक्ष कर मार्जार बाला को पुनः
दूसरी बोली——'अरी, ये खेल अब
खो चुके है विभव सब, तारुण्य के
मुग्ध, तिरछे, चपल नयनों के लिए।

'प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।
'कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।

'संकुचित थीं प्रात जो नव क्यारियाँ
दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति में
फूलने अब हैं लगीं, उन्मत्त कर
लोचनों को निज सुरा सी कांति से।'

सहम सखियों के निठुर आक्षेप से,
सुभ्रुवों के साथ मन को खींचती,
वह मृगी सी चकित आँखों को फिरा
थी छिपाना चाहती अपनी दशा।
तरुणता की और-मुख चिर सहचरी
चतुरता, जो तरुणियों के हृदय को
है बना देती अभेद्य रहस्य सा,
वह किसे है सतत भटकाती नहीं?

'संजनि! आज विलंब सा कैसे हुआ?
प्रियतमा बोली, 'कहीं क्या मधुकरी
बंध गई थी नव नलिन की गोद में,
मुग्ध हो मधु से, सुछबि से, सुरभि से।

'कुंज के वा कुटिल काँटों से कहीं
बिध गई थी विहगिनी ? अथवा कहीं
सरल शफरी फँस गई थी सुमन सी
तरल छवि के अलक के-से जाल में ?'
साँझ के नव जलद में रवि रश्मि सी
रसिकता जिसके सुसस्मित वदन से
झलकती थी, वह सखी बोली पुनः
सजल जलधर सी सरस, मृदु भाषिणी;——

'एक दिन संध्या समय मैंने सखी !
एक सुखमय दृश्य देखा,——एक अलि
पद्मिनी का बिंब सर में देख कर
डूबता है सलिल में मधुपान को।
'बाँधती है एक मृदुल मृणालिनी
मत्त बाल गयंद को कृश सूत्र से,
गूँथ मुक्ता हार एक मरालिनी
हंसपति को दे रही उपहार है।

देखता है निर्निमेष नयन चकोर
युगल चन्द्रों को,——सजनि! उस दृश्य की
चारु चर्चा ने हमारा प्रिय समय
हर लिया उस हंसिनी के हृदय सा।'

'याद आती है मुझे अपनी कथा,'
तीसरी बोली, 'बहुत दिन से बँधे
हृदय में संयाम, गोपन से पला
प्रेम संप्रति फूटना है चाहता!
'पूर्णता स्मृतिहीन है, सत्प्रेम की
मूक वाणी एक अनुभव है सही,
बिम्ब भी मिलता नहीं सौन्दर्य का,
घाव भी पर हाय! मिटता है नहीं।
'वायु विस्मित गूढ़ छाया में, तथा
सरल तुतले बिम्ब में भी वारि के
ये नयन डूबे अनेकों बार हैं,
काव्य के प्राग्वर्ण पर भी हैं रुके।

'स्तब्ध रजनी में डरे, कौतुक भरे,
तारकों से भी लड़े हैं, कमल पर
ढुलकती लघु ओस बूँदें भी कई
हैं इन्होंने प्रात पकड़ीं पलक से ।
'सांझ को, उड़ते शरद के जलद से
सीख सहृदयता, उसी के साथ ये
लीन भी हैं हो चुके आकाश में,
विहग बाला की व्यथा को खोजने ।

'यह नहीं, जल वीचियों में शशि कला
अलि ! इन्होंने किलकती देखी न हो,
शशि करों से कौमुदी को छीन कर
कुमुदिनी को मार भी ये हैं चुके ।
'किन्तु जिस मोती मनोहर मूर्ति को
एक दिन देखा इन्होंने, ये उसे
खोजते हैं नित्य तब से अश्रु से,
हास से, उच्छ्वास से, अपनाव से ।

'सजनि ! पतले पत्र से चित्रित जलद
व्योम में छाए हुए थे, तनिक भी
वृष्टि की आशा न थी, मैं पवन के
गीत अंचल में मधुर थी भर रही।
'जब, अचानक, अनिल की छबि में पला
एक जल कण, जलद शिशु सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता सा, गान सा,
चाह सा, सुधि सा, सगुन सा, स्वप्न सा।

'सुन चुकी हूँ विहग बाला के रँगे
गीत में तब से अरुण की ज्योति में,
हूँ विलोक चुकी उषा की अधखुली
लालिमामय सजल आँखें, कमल सी।
'तृषित चातक को तरसता देख कर
ले चुकी हूँ स्वाति जल का स्वाद भी,
सरल, उड़ते बुलबुलों को पकड़कर
करुण क्रंदन भी श्रवण हूँ कर चुकी।

'देख इंद्रधनुष अनेकों बार मैं
भ्रू युगल मटका चुकी हूँ सेतु-से,
देख केले को थिरकता केतु सा
नृत्य भी हूँ कर चुकी एकांत में।
'पकड़ उड़ते दीप वर्षा काल के,
रख हथेली पर, अँधेरी रात को,
मैं नियति की रेख भी हूँ पढ़ चुकी,
सजनि ! उनकी खोजती लघु ज्योति में।

'सुरसरी को प्रथम जिस जल बिन्दु ने
सरणि सागर की दिखाई थी, उसे
खोजने को भी बहा मैं हूँ चुकी
एक लघु नादान आँसू मोम सा।
हरित प्रिय छोटे पगों से जगत की
वेदिका को पार करता देखकर,
एक प्रातः, दूब से भी मैं बहिन !
पग सहस्र मिला चुकी हूँ, ओस-से।

'दीप नीचे, म्लान मूर्छित तिमिर के
करुण अंचल को टटोल, छिपी हुई
दग्ध शलभों की विनीरव वेदना
धो चुकी हूँ आँसुओं की बाढ़ से ।
'विरहिणी की कल्पना कर, एक दिन,
एक पीले पात में अपनी दशा
विविध यत्नों से सुलाकर, मैं उसे
बार बार लगा चुकी हूँ हृदय से ।

'स्वप्न के सस्मित अधर पर, नींद में,
एक बार किसी अपरिचित साँस का
अर्ध चुंबन छोड़, मैं झट चौंक कर
जग पड़ी हूँ अनिल पीड़ित लहर सी ।
'हूँ विलोक चुकी उजेले भाग्य में
सखि ! अचानक तारकों से टूटते,
करुण कोमल भेद भी हूँ पढ़ चुकी
मूक उर के, अश्रु अपलक नयन के ।

किन्तु उस कण की सजल सुधि में हृदय
हूँ सदा तब से लपेटी, स्वर्ग के
उस अमृत, अस्फुट, अलौकिक स्पर्श से
तार गुंजित कर चुकी हूँ प्रणय का।
'बालकों के हास से उसका चपल
चित्र अंकित कर चुकी हूँ हृदय में,
दे चुकी हूँ भेंट तारों से बड़े
अश्रु कण, शशि रश्मियों में गूँथ कर।
'मधुकरी की मधुभरी वीणा चुरा
गीत गाती हूँ कुसुम सुकुमार के,
सुरसरी की धार में हूँ ढूँढ़ती
शक्ति प्रियतम की अमित उपकारिणी।'

सुन प्रणय के इस अनूठे काव्य को
हृदय से लिपटा उसे, पहिली सखी
तरुण अनुभव में तुले स्वर में उसे
मर्म समझाने लगी यों प्रेम का।

'निपट अनभिज्ञा अभी तुम हो बहिन !
प्रेमिका का गर्व रखती हो वृथा;
अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो न क्या
तरुणता तुमसे लड़ी अभिलाष सी ?
'मत्त गज से पुरुष को जिसने नहीं
बाँध डाला दृष्टि के कृश सूत्र से,
बस, बिना सोचे, अचानक, प्रेम को
हृदय जिसने हो न अर्पण कर सका;
'प्रेम ही का नाम जप, जिसने नहीं
रात्रि के पल हों गिने, प्रतिशब्द से
चौंक कर, उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा,--प्यार क्या उसने किया ?

'मंद चलकर, रुक अचानक, अधखुले
चपल पलकों से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी
तरुणता का गर्व क्या उसने किया ?

'हास सरिता में सरोजों-से खिले
गाल के गहरे गढ़ों को, मधुप-से
चुंबनों से हो नहीं जिसने भरा,
उस खिली चंपा कली ने क्या किया ?

देश के इतिहास के से बहिन ! तुम
वृत्त कोरे गिन रही हो', पुन. वह
प्रेमिका बोली,—'सरस मेरी कथा
हाय ! सब तुमने मिला दी धूल में।'

अनिल कल्पित कमल कोमल गात को
अक भर कर, रसिक ! किसकी चाह की
बाँह तृप्त हुई ? तुहिन जल से हसित
किसलयों को चूम किसका मन बुझा ?
इस तरह प्रतिदिवस सखियों में हुई
प्रेम चर्चा सुन, मधुर मुसकान से
भाग लेती, वह सरलता की कला
हर रही थी कुमुद की प्रिय कुटिलता।

अब इधर—

अब इधर मेरी दशा उस समय की
श्रवण कर लें,—कठिन कण्टक कुसुम के
अधिक कोमल गात से बिंध, किस तरह
अलग जग के वृंत से था हो गया।
नियति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली,
बाल्य में ही हो गई थी लुप्त हा!
मातृ अंचल की अभय छाया मुझे।

पेटिका दुहरी पिता के यत्न की
पंचदश में खो, स्व मातुल के यहाँ
उन दिनों मैं था, कृपण से दान सी,
दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली।
निठुर विधि ने स्वर्ग की वह कीर्त्ति भी
तोड़ कर माता पिता की गोद से
डाल दी थी बालकों के हास सी
अति सरल अनभिज्ञता के अधर पर।

एक सुखमय सूत्र में कुछ काल को
गूँथने ही के लिए क्या भाग्य ने
इस तरह हमको छुड़ाया वृंत से ?
वामता होती सहायक है कभी।
गूढ़ भावी ! मलिन तम के गर्भ में
स्वर्ग छबि का भार रहता है छिपा !
सलिल कण के पतन में भी गगन से,
भव्य मुक्ता गुप्त रहता है कहीं।

हाँ, तरणि थी मग्न ज़ब मेरी हुई
(सरस मोती के लिए ही?) उस समय
छलकता था वक्ष मेरा स्फीति से,
मुग्ध विस्मय से, अतृप्त भुलाव से।
लग्न यौवन के अधीर दबाव से
हो सुपीन उभार सा हलका हृदय
अति अजान खिंचाव से सौन्दर्य के
ढुलकता था अमित सुख के स्वर्ग को।

बाल्य की विस्मयभरी आँखें, मृदुल
कल्पना की कृश लटों में उलझ के
रूप की सुकुमार कलिका के निकट
झूम, मँडराने लगी थीं घूम कर।
चपल पलकों में छिपे सौन्दर्य के
सहज दब कर, हृदय मादकता मिली
गुदगुदी के स्निग्ध पुलकित स्पर्श को
समुत्सुक होने लगा था प्रतिदिवस।

दृष्टि पथ में दूर अस्फुट प्यास सी
खेलती थी एक रजत मरीचिका,
शरद के बिखरे सुनहले जलद सी
बदलती थी रूप आशा निरंतर।
अह, सुरा का बुलबुला यौवन, धवल
चंद्रिका के अधर पर अटका हुआ,
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक
जलद सा है सहज ले जाता उड़ा !

प्रात सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहिले सुनहले स्पर्श से,
साँझ की मूर्छित प्रभा के पत्र पर
करुण उपसंहार हा ! उसका मिला ! !
गिर पड़ा वह स्वप्न मेरा अश्रु सा
पलक दल को छू अचानक, कमल के
अंक में अटका तुहिन जल अनिल की
एक हलकी थुपथुपी से सो गया !

वह स्पृहा जो ऊर्मि सी उठ, इंदु से
प्रणय गाथा बिम्बिता कर, प्राण को
भेजती संवाद थी, सहसा निठुर
नियति ने निज कुटिल पद से कुचल दी।
हा ! अभय भवितव्यते ! किस प्रलय के
घोर तम से जन्म तेरा है हुआ !
वात, उल्का, वज्र औ' भूकंप को
कूट, क्या तेरा हृदय विधि ने गढ़ा ?

तू सरल कोमल कुसुम दल में कहाँ
है छिपी रहती कठिन कण्टक बनी ?
शांत नभ में कब, कहाँ है छोड़ती,
कौन जाने, तू छिपे तूफ़ान को !
स्वर्ण मृग तेरा पिशाचिनि ! हर चुका
इष्ट कितनों के हृदय का है अहा !
भटकते कितने नहीं हैं मुग्ध हो
देख रजत मरीचिका तेरी सदा !

हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि बंधन हो गया, वह नव कमल
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया !
पाणि ! कोमल पाणि ! निज बंधूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः ?

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी
गान से विधि ने गढ़ीं ? जो हृदय को,
याद आते ही, विकल संगीत में
बदल देती हैं भुलाकर, मुग्ध कर !
याद है मुझको अभी वह जड़ समय
ब्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओं से तारकों को विजन में
गिन रहा था, व्यस्त हो, उद्भ्रांत हो !

हाय रे मानव हृदय ! तुझसे जहाँ
वज्र भी भयभीत होता है, वहीं
देख तेरी मृदुलता तिल सुमन भी
संकुचित हो सहम जाता है अहा !
ग्रंथि बंधन ! —इस सुनहली ग्रंथि में
स्वर्ग की औ' विश्व की मंगलमयी
जो अनोखी चाह, जो उन्मत्त धन
है छिपा, वह एक है, अनमोल है !

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी !

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह, मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो!
शिथिल दर्शन! ज्ञान जृम्भा के अलस!
वृद्ध अनुभव की सिकोड़! वृथा मुझे
सांत्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो, न बहलाओ हृदय।

व्यर्थ मेरा धन न यों छीनो,—सजल
वेदना, यह प्रणय की दी वेदना;
मूक तम, वाचाल नग्न शिशिर, दबी
शून्य गर्जन, आह मादक सुधि अटल;
और भी, हाँ, प्रियतमा के रूप का
भार, ध्रुव से अश्रु आँखों में, चुभे
कंटकों का हार, कुछ उद्गार जो
बादलों से उमड़ते हैं हृदय में!

छि: सरल सौन्दर्य ! तुम सचमुच बड़े
निठुर औ' नादान हो ! सुकुमार, यों
पलक दल में, तारकों मे, अधर में
खेल कर तुम कर रहे हो हाय ! क्या ?
जानते हो क्या ? सुकोमल गाल पर
कृश अँगुलियों पर, कटी कटि पर छिपे,
तुम मिचौनी खेल कर कितना गहन
घाव करते हो सुमन से हृदय में !

औ' अकेले चिबुक तिल से, कुछ उठी
कुछ गिरी भ्रू वीचि से, कुछ कुछ खुली
नयनता से, कुछ रुकी मसकान से
छीनते किस भाँति हो तुम धैर्य को ?
मुकुल के भीतर उषा की रश्मि से
जन्म पा, मधु की मधुरता, धूलि की
मृदुलता, कटु कंटकों की प्रखरता,
मुग्धता ली मधुप की तुमने चुरा ।

और, भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीन कर,
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में !

स्मृति ! यदपि तुम प्रणय की पद चिह्न हो,
पर निरी हो बालिका—तुम हृदय को
गुदगुदाती हो, तरल जल बिम्ब सी
तैरती हो, बाल क्रीड़ा कर सदा।
नियति ! तुम निर्दोष और अछूत हो,
सहज हो सुकुमार, चकई का तुम्हें
खेल अति प्रिय है, सतत कृश सूत्र से
तुम फिराती हो जगत को समय सा !

मंजु छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल पत्रों से टपकती है जहाँ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदल कर,
सुघर मोती-से पदों से ओस के।
अमृत आशा ! चिर दुखी की सहचरी
नित नई मिति सी, मनोरम रूप सी,
विभव वंचित, तृषित, लालायित नयन
देखते हैं सदय मुख तेरा सदा।

देवि ! ऊषा के खिले उद्यान में
सुरभि वेणी में भ्रमर को गूँथ कर,
रेणु की साड़ी पहन, औ' तुहिन का
मुकुट रख, तुम खोलती हो मुकुल को!
मेघ से उन्माद ! तुम स्वर्गीय हो,
कुमुद कर से जन्म पा, तुम मधुप के
गीत पीकर मत्त रहते हो सदा,
मौन औ' अनिमेष निर्जन पुष्प से !

आह !—सूखे आँसुओं की कल्पना,
कोहरे सी, मुक्त मग में झूम कर,
दग्ध उर का भार हर, तुम जलद सी
बरसती हो स्वच्छ हलकी शांति में !
अश्रु,—हे अनमोल मोती दृष्टि के !
नयन के नादान शिशु ! इस विश्व में
आँख हैं सौन्दर्य जितना देखतीं
प्रतनु ! तुम उससे मनोरम हो कहीं।

अश्रु !—दिल की गूढ़ कविता के सरल
औ' सलोने भाव ! माला की तरह
विकल पल में पलक जपते हैं तुम्हें,
तुम हृदय के घाव धोते हो सदा।
वेदने ! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा संगीत, नीरव हास हो,
है तुम्हारा हृदय माखन का बना,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें !

वेदना !—कैसा करुण उद्‌गार है !
वेदना ही है अखिल ब्रह्मांड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना !
वेदना !—कितना विशद यह रूप है !
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा !
रूप की अंतिम छटा ! औ' विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी !

कौन दोषी है ? यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है,—विश्व का
नियम है यह; रो, अभागे हृदय ! रो! !

× × × ×

कौन वह बिछुड़े दिलों की दुर्दशा
पोंछ सकता है ? दृगों की बाढ़ में
विकल, बिखरे, बुद्‌बुदों की बूड़ती
मौन आहें हाय ! कौन समझ सका ?

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह ! —अहह, कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा ! !

—

प्रेम वंचित—

प्रेम वंचित को तथा कंगाल को
है कहाँ आश्रय ? विरह की वह्नि में
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा
हो गई परिणत विरति सी शक्ति में।
सुहृद्वर ! कंगाल, कृश कंकाल सा,
भैरवी से भी सुरीला है अहा !
किस गहनता के अधर से फूट कर
फैलते हैं शून्य स्वर इसके सदा !

आज मै कंगाल हूँ--क्या यह प्रथम
आज मैंने ही कहा? जो हृदय! तुम
बह रहे हो मुक्त हलके मोद में
भूल कर दुर्दैव के गुरु भार को !
मैं अकेला विपिन में बैठा हुआ
सोचता हूँ विजनता से हृदय को,
और उसकी भेदती कृश दृष्टि से
ढूंढता हूँ विश्व के उन्माद को।

विश्व,--यह कैसी मनोहर भूल है !
मधुर दुर्बलता !—कई छोटी बड़ी
अल्पताएँ जोड़, लीला के लिए,
यह निराला खेल क्या विधि ने रचा ?
कौन सी ऐसी परम वह वस्तु है
भटकते हैं मनुजगण जिसके लिए ?
कौन सा ऐसा चरम सौन्दर्य है
खींचता है जों जगत के हृदय को ?

आह, उस सर्वोच्च पद की कल्पना
विश्व का कैसा उपल उन्माद है !
यह विशाल महत्त्व कितना रिक्त है,
विपुलता कितनी अबल, असहाय है !
कौन सी ऐसी निरापद है दशा
लोग अभ्युत्थान कहते हैं जिसे ?
पतन इसमें कौन सा अभिशाप है
जो कँपाता है जगत के धैर्य को ?

निपट नग्न निरीहता को छोड़कर
कौन कर सकता मनोरथ पूर्ति है ?
कौन अज्ञ दरिद्रता से अधिकतर
शक्तिमय है, श्रेष्ठ है, संपन्न है ?
सौख्य ? यह तो साधना का शत्रु है,
रिक्त, कुंठित क्षीणता है शक्ति की;
हा ! अलस के इस अपाहज स्वांग में
हो गई क्यों मग्न जग की गहनता !

ज्ञान ? यह तो इन्द्रियों की भ्रांति है,
शून्य जृम्भा मात्र निद्रित बुद्धि की,
जुगनुओं की ज्योति से, बन में विजन,
जन्म पीपल के तले इसका हुआ ।
वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है,
वेदना का ही स्वतंत्र विनोद है।

वेदना से भी निरापद क्या अहा !
और कोई शरण है संसार में ?
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा
निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का ?
कर्म के किस जटिल विस्तृत जाल में
है गुँथी ब्रह्मांड की यह कल्पना !
योग बल का अटल आसन है अड़ा
वेदना के किस गहन स्तर में अहा !

आज मैं सब भाँति सुख संपन्न हूँ
वेदना के इस मनोरम विपिन में,
विजन छाया में द्रुमों की, योग सी,
विचरती है आज मेरी वेदना !
विपुल कुंजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा;
ललित लतिका के विकंपित अधर में
काँपती है आज मेरी कल्पना !

ओस जल से सजल मेरे अश्रु हैं
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े !
पवन पीले पात में मेरा विरह
है खिलाता दलित मुरझे फूल सा !
सुमन दल में फूट, पागल सी, अखिल
प्रणय की स्मृति हँस रही है, मुकुल में
वास है अज्ञात भावी कर रही
आज मेरी द्रौपदी सी परवशा !

ग्रा किसी के प्रेम वंचित पलक की
मूक जड़ता है ? पवन में विचर कर,
पूछती है जो सितारों से सतत—
'प्रिय ! तुम्हारी नींद किसने छीन ली?'
यह किसी के रुदन का सूखा हुआ
सिन्धु है क्या ? जो दुखों की बाढ़ में
सृष्टि की सत्ता डुबाने के लिए
उमड़ता है एक नीरव लहर में !

आह, यह किसका अँधेरा भाग्य है ?
प्रलय छाया सा, अनंत विषाद सा !
कौन मेरे कल्पना के विपिन में
पागलों सा यह अभय है घूमता ?
हृदय ! यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
धूम ही है शेष अब जिसमें रहा !
इस पवित्र दुकूल से तू दैव का
वदन ढँकने के लिए क्यों व्यग्र है ?

× × × ×

विघ्न वाचक ! और भी उपकरण हैं
शेष मेरे पास दुख का इस समय;
किंतु मैं सब भाँति सुख संपन्न हूँ
वेदना के इस मनोहर विपिन में।

पतन के नीले अधर पर भाग्य का
जो निठुर उपहास मैंने आपको
आज दिखलाया, उसे किसकी दया
कर सकी है मंद ? क्या लोकेश की ?
कुटिल भावी के अँधेरे कूप में
और कितने हैं अभी आँसू छिपे,—
छलकती आँखें उन्हें प्रिय ! फिर कभी
भेंट देंगी कर कमल में आपके।